



आयुर्वेद दर्शन में मनस् की अवधारणा

दलिप कुमार मीणा

दर्शनशास्त्र

डी 3, गलेक्सी अपार्टमेंट

गदईपुर, दक्षिण दिल्ली

प्रस्तावना

आयुर्वेद में मन का बोधगम्य और विश्लेषणात्मक वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद में मन एक अनुमानगम्य द्रव्य है अर्थात् मन को प्रत्यक्ष रूप से देखने या सुनने से अनुभव नहीं किया जा सकता अपितु उसका अनुमान किया जा सकता है।

देहानुबन्धकर्म के द्वारा मन से सदैव आत्मा से संयुक्त रहता है और एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता रहता है। इसी को ही संसारचक्र या पुनर्जन्म कहते हैं। योग और समाधि के द्वारा अथवा मुमुक्षु के उदयनों (उन्नति के उपायों) के आसेवन से 'मोक्ष' प्राप्त किया जा सकता है। चरकसंहिता के शारीरस्थान के प्रथमाध्याय 'कतिधापुरुषीय' और तृतीयाध्याय 'पुरुषविषय शारीर' में विस्तार के साथ इसका वर्णन मिलता है।

आत्मा निष्क्रय है, किन्तु ज्ञानवान अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति और अनुभव करने वाला है। आत्मा को ज्ञान की उपलब्धि मन और तत्सहयोगी इन्द्रियों मध्य से होती है। आत्मा चेतनावान् है शेष समस्त तत्त्व अवचेतन है। अतः वह अज्ञानवान है। इस प्रकार आत्मा का प्रमुख सहायक 'मन' संज्ञक द्रव्य है। इसकी गणना सृष्टि के आरम्भक द्रव्यों में की गई है।¹ प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति में इन्द्रियां करण या साधन है,

किन्तु इन्द्रियों के अपने विषय और इन्द्रियों के उपस्थित रहने पर भी तत्-तत् इन्द्रिय द्वारा तत्-तत् विषय का अभिग्रहण तब तक नहीं होता जब तक उस इन्द्रिय में मन का अधिष्ठान अर्थात् संयोग और प्रेरण नहीं हो जाता। इसलिये कहा गया है -

'मनःपुरःसराणिइन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति'²

अतः अन्वयव्यतिरेकाभिव्याप्ति से मन के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

मन की संघटना

मन 'एक' और 'अणु' है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में मन को अणु परिणाम वाला स्वीकार किया गया है। द्रव्य होने से मन की इन दोनों विशेषताओं को गुण कहा जाता है। मन एक इन्द्रिय है और वह बुद्धिन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों पर भी नियन्त्रण करता है। अतः इसे उभयात्मक इन्द्रिय कहा गया है। इन्द्रिय होने से मन के अपने अर्थ और विषय भी हैं, जिनका ग्रहण या ज्ञान मन करता है। चरक ने चिन्त्य अर्थात् चिन्तन करना, सुख-दुखादि इन्द्रियनिरपेक्ष भावों का ग्रहण करना, मन का मुख्य 'अर्थ' लिखा है - 'मनसस्तु चिन्त्यमर्थः (च.सू. 8/16) इसके अतिरिक्त विचार्य, उद्दय, ध्येय, संकल्प और जो कुछ मन के द्वारा ज्ञात किया जाता है, वह सब उसका 'अर्थ' या विषय है।



मन की संघटना (Structure) आयुर्वेददृष्ट्या पञ्चभौतिक है, परन्तु दर्शनों ने इसे त्रिगुणसमुदायरूप माना है। वस्तुतः मूलगामी दृष्टिकोण के आधार पर दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति का एकमात्र कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति को माना गया है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण संसार के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। अतः मन भी त्रिगुणयुक्त है। किन्तु चेतनाभिसंघाता से संयुक्त होने के कारण मन में इन तीनों गुणों की अभिव्यक्ति सविशेष होती है। अतः मन को चिकित्सीय अभिप्राय से पांचभौतिक मानते हुये भी त्रिगुण युक्त मानना युक्तियुक्त ही है।

मन के तीन गुणों में से सत्त्वगुण प्रकाशक है, रजोगुण प्रवर्तक (चलात्मक) है। और तमो गुण नियामक (प्रवृत्तिविरोधक अवसाद)³ है। इनमें से सत्त्वगुण शुद्ध और दोषरहित है, क्योंकि वह कल्याणांश युक्त है, रज सदोष है। रोषांशयुक्त होने से तम भी सदोष है मोहांशसंयुक्त होने से।⁴ अतः सत्त्व को गुण ही माना गया है, दोष नहीं। सत्त्वगुण विकार रहित होता है। रज और तम ये दो मन के दोष हैं। इनके दुष्ट होने पर ही मन की विकृति उत्पन्न होती है। जब तक ये अदृष्ट रहते हैं, तब तक मन भी स्वस्थ रहता है।

मन की संज्ञा 'सत्त्व' भी है। इसके दो कारण हैं। मन की आदि उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से प्रामुख्येन होती है मन के तीनों गुणों में 'सत्त्वगुण' सविशेष रहता है।⁵

मन के विकृत होने पर अर्थात् रजतम के दुष्ट होने के कारण अनेक प्रकार के मानसरोग प्रादुर्भूत होते हैं। ये मुख्यतः काम, क्रोध, लोभ आदि हैं।

समग्र जीवित शरीर के स्वास्थ्य की दृष्टि से मन का स्वस्थ होना भी आवश्यक है। मन की

स्वस्थता उसकी प्रसन्नता से घोषित होती है। यथा सुश्रुत संहिता में उल्लेखित है

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥
(सु.सं. 15/41)

मन के विकृत होने पर न केवल मन की अपितु आत्मा और इन्द्रियों की प्रसन्नता भी लुप्त हो जाती है।

“मन ज्ञाने बोधने वा” (दिवा आत्म सकर्मक अनिट्) धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन (उणादि 4ध/188) द्वारा 'असुन' प्रत्यय करके मनस् या मन शब्द बना है। अर्थात् ज्ञान या बोधन क्रिया के लिये प्रयुक्त होने वाली 'मन' धातु से मनस् या मन शब्द व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर मन की निरुक्ति इस प्रकार की जाती है :

'मन्यते जायते बुद्ध्यतेऽनेनेति मनः' जिसके द्वारा जाना जाता है। ज्ञान प्राप्त किया जाता है या बोध होता है, उसे 'मन' कहते हैं। अतः मन का शाब्दिक अर्थ है. 'ज्ञान कराने वाला साधन।' चरक संहिता में तीन स्थलों पर मन की परिभाषा दी गई है। इनमें मन से स्वरूप, कार्यो, गुणों व विशेषताओं का उल्लेख किया गया है :

1 'सत्त्वमुच्यते मनः तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात्।'⁶

सत्त्व को ही मन कहते हैं। वह आत्मा के संयोग से शरीर का तन्त्रक अर्थात् धारक और प्रेरक है।

2 "अतीन्द्रिय पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं 'चेतः' इत्याहुरेके तदार्थात्मसंपदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्"⁷

मन अतीन्द्रिय है। अतीन्द्रिय शब्द के दो अर्थ हैं. चक्षु आदि बाह्य ज्ञान के साधनभूत इन्द्रियों से परे (अतीक्रान्तमिन्द्रियमतीन्द्रियम्) है तथा चक्षु आदि इन्द्रियों से भी सूक्ष्मतर और दुरवबोध है।



मन की चेष्टा मनोर्थ (सुखादि और चिन्त्यविचार्यादि) और आत्मा की 'संपत्' (श्रेष्ठता) पर निर्भर करती है अर्थात् इन दोनों की संपत् के अधीन चेष्टा है जिसकी उसे मन कहते हैं। यहाँ 'अर्थसंपत्' से सुखादि आदि सन्निकर्ष और चिन्त्यादि का अभिमुख होना, 'आत्मसंपत्' से आत्मा का प्रयत्नशालित्व होना, ग्रहण किया जाता है। मन की तीन प्रकार की चेष्टायें हैं - सुखादि का ज्ञान चिन्त्यादि का चिन्तन तथा चक्षु आदि का प्रेरण।

यहाँ मन की परिभाषा में एक अन्य तथ्य और भी उभर कर सामने आता है जो इन्द्रियों की चेष्टा का कारण भूत है, वह मन है, इन्द्रियों की चेष्टा से तात्पर्य उनका विषय रूपादि के ज्ञान के अर्थ में है। इससे स्पष्ट होता है कि जब सुखादि और चित्यादि विषय उपलब्ध होते हैं और आत्मा प्रत्ययवान होता है, तब मन अपने विषय में प्रवृत्त होता है इन्द्रियों में अधिष्ठान करता है तथा इन्द्रियां मनोऽधिष्ठित होने पर ही अपने विषय ज्ञान में प्रवृत्त होती हैं।

3 "अस्ति खलु सत्त्वमौपपादुकं यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसंबध्नाति यस्मिन्पगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते भक्तिर्विपर्यस्यते सर्वेन्द्रियाण्युपतयन्ते बलं हीयते व्याध्य आप्यायन्ते यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च मनः इत्यभिधीयते।"⁸

जो जीव का 'स्प्रक्शरीर' से सम्बन्ध स्थापित करता है, जिसके निकल जाने पर शील बदल जाता है, भक्ति (अभिरुचि) नष्ट हो जाती है, सब इन्द्रियां कष्ट पीडित हो जाती हैं, व्याधियां बढ़ जाती हैं, जिसके बिना प्राणों का त्याग हो जाता है, जो इन्द्रियों का अभीग्राहक प्रेरक है, इसे 'मन' कहते हैं।

चरक की उपर्युक्त परिभाषा में मन की महत्ता, विशेषता, गुण व कर्मों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मन एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करने वाला होता है। वह नित्य आत्मा के साथ रहता है। वह 'स्प्रक्शरीर' अर्थात् आत्माहिक शरीर के साथ आत्मा को जोड़कर रखता है। इसी से आत्मा भोगायतन शरीर के साथ संयुक्त रहता है।

अथवा मन ही जीव को स्पर्शवान शरीर के साथ संयुक्त कराता है। मन की गति के कारण ही आत्मा भी एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है।⁹ अन्यत्र भी चरक संहिता में कहा गया है -

सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में सर्वप्रथम मनः संयुक्त अर्थात् मन ही कारण या साधन है जिसका ऐसा चेतन धातु जीवात्मा गुणग्रहण अर्थात् गुणवान् भूतों के साथ संयोग करने के लिये प्रवृत्त होता है। प्रथम आकाश से, फिर क्रमशः व्यक्ततर धातुओं वायु आदि का उपादान करता है। यह सब गुणोपादानरूप कार्य बहुत अल्प (अणु) काल में सम्पन्न हो जाता है।¹⁰

मन का लक्षण

मन अतीन्द्रिय होने से उसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। उसके कार्य को देखकर अनुमान द्वारा उसका अस्तित्व प्रमाणित जाता है।

ज्ञान का न होना और होना मन के अस्तित्व को सूचित करता है। आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने पर भी मन का संयोग नहीं होने पर ज्ञान नहीं होता और उसका संयोग होने से ज्ञान उत्पन्न होता है।

अर्थ का ज्ञान होने में आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ और मन के सन्निकर्ष को हेतु माना गया है। पहले के तीनों के सन्निकर्ष के उपस्थित होने पर भी मन के सन्निकर्ष के बिना ज्ञान नहीं होता। इस



अन्वय - व्यतिरेक सिद्धि - अनुमान द्वारा मन का अस्तित्व सिद्ध होता है। इन्द्रियां मन के संयोग से ही अर्थग्रहण करती हैं। जब एक साथ इन्द्रियां अर्थों से संयुक्त होती हैं तब किसी एक अर्थ का ज्ञान होता है, अन्य का नहीं।¹¹

इससे प्रमाणित होता है कि इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होना अर्थग्रहण के लिये आवश्यक है।

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।

सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षं न वर्तते।

वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते॥ च शा. 1/181

मन का स्वरूप

मन का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है परन्तु जो सूक्ष्म है, अणु है, एक है, स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से सर्वशरीर व्याप्त है, जो ज्ञान होने में प्रमुख हेतु है, शरीर में रहते हुये शरीर से बाहर जाता है, स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं में क्रियाशील रहता है, जो इन्द्रियों का नियामक है, जो गतिशील है। वह मन है। मन और बुद्धि को आत्मा सदृश कहकर आचार्य चरक ने इसकी गूढता प्रकट कर दी है।

बुद्धिर्मनश्च निर्णीते यथैवात्मा तथैव च। (च. सू. 11/11)

इस वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मन मात्र क्रियास्वरूप है, रचनास्वरूप नहीं। किन्तु आयुर्वेद में मन को द्रव्य माना गया है -

खादिनात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।¹²

मन के गुण

आचार्यों ने मन के अणुत्व और एकत्व ये दो विशिष्ट गुण बताये हैं -

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ¹³

अणुत्व गुण के कारण ही मन संपूर्ण शरीर में, सभी इन्द्रियों तक अव्याहत गति से संपर्क करता

है। मन अणु (सूक्ष्म) तो है किन्तु असर्वव्यापक तथा एक है। यदि मन को अणु मानकर विभू (व्यापक) माना जाये तो मन सभी इन्द्रियों से एक साथ ही संयुक्त हो सकता था और इन्द्रियार्थों को एक साथ ही सम्पूर्ण ज्ञानोत्पत्ति हो सकती थी, किन्तु ऐसा नहीं होता है। एक बार में एक ही इन्द्रिय व्यापार सम्पन्न होता है। व्यवहार में कार्य करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक साथ सुन रहे होते हैं, देख रहे होते हैं, बोल रहे होते हैं और कर्मेन्द्रियों से कार्य जैसे आँख, हाथ, पैर हिलाना आदि करते रहते हैं। वस्तुतः तब भी हमारा मन एक-एक इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ से क्रमशः ही सम्पर्क करता है। अतिक्षिप्रता के कारण 'शतपत्रकमलभेदनवत' हमें एकसाथ हुआ प्रतीत होता है जबकि वह कार्य एक एकशः ही होता है। अर्थात् कमल के सौ पत्तों को एक के ऊपर एक रखकर उनमें सहसा सुई छेदी जाये तो ऐसा लगता है कि एक साथ सभी को छेदा गया है जबकि सुई एक-एक का भेदन करती है।

इसी प्रकार मन भी अपने अर्थ (चिन्त्य) आदि इन्द्रियार्थ व संकल्पा आदि में संयुक्त होकर ज्ञानोत्पत्ति होती है। अतः प्रथक्-प्रथक् कार्य करने से यह भास होता है कि प्रथक्-प्रथक् कार्य करने वाले मन अनेक हैं, लेकिन यदि मन अनेक होता तो एक साथ ही अनेक प्रकार का ज्ञान हो सकता था। प्रत्यक्षतः यह देखा जाता है कि मन किसी एक इन्द्रिय या विषय से गम्भीर रूप से जुड़ा रहता है तो अन्य इन्द्रियार्थ के प्रत्यक्ष होते हुये भी ज्ञान नहीं होता। यही मन के एकत्व का प्रबल प्रमाण है।

यदि मन को आत्मा के समान सर्वेन्द्रियद्रव्यापक माने अथवा इन्द्रियों के समान अनेक माने तो युगपत् इन्द्रियार्थों के साथ सम्बन्ध होने पर



विभू मन के अथवा अनेक मन के इन्द्रियों मे एक साथ अधिष्ठित होने के कारण पाँच इन्द्रियों से ज्ञान उत्पन्न होगा। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये युगपत् ज्ञान नहीं होने से मन अणुरूप और एक होना सिद्ध होता है। जिस इन्द्रिय से मन संयुक्त होता है उसी से ज्ञान होता है। अपने अर्थ (चिन्त्य), इन्द्रियों के अर्थ और संकल्प के व्यभिचरण (एक को त्याग कर दूसरे का ग्रहण करने) से तथा रज, तम सत्व, गुण के योग से एक ही व्यक्ति में मन अनेक प्रतीत होता है। परन्तु उसका अनेकत्व नहीं है, क्योंकि मन एक होने से एक ही काल में अनेक में प्रवृत्त नहीं होता, इसलिये सब इन्द्रियों की एक काल में प्रवृत्ति नहीं होती है।¹⁴

मन के विषय

ज्ञान की प्रक्रिया में मन की महत्वपूर्ण भूमिका है। ज्ञान की प्रक्रिया इन्द्रिय सापेक्ष और इन्द्रिय निरपेक्ष दो प्रकार की होती है। जब मन इन्द्रियों के साथ प्रवृत्त होता है तो इन्द्रियार्थ को ग्रहण करवाकर ज्ञानोत्पत्ति करता है। लेकिन इन्द्रियों के बिना मन जिन विषयों को ग्रहण करता है वे शब्दादि रूप ही होते हैं, केवल इतना अन्तर रहता है कि शब्दादि का ग्रहण केवल मन के द्वारा इन्द्रिय¹⁵ निरपेक्ष होता है तो वे मनोऽर्थ कहलाते हैं। यह पूर्व स्मृति या अन्तःकरण के संयोग से सम्भव होता है कल्पना या अनुमान के माध्यम से मन कुछ विषयों का ज्ञान करता है। महर्षि चरक ने मन के अर्थ चिन्त्य, विचार्य, उद्दय, ध्येय, संकल्प और अन्य विषय माने हैं। चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च। यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ (च.शा. 1/ 20)

1 चिन्त्य

किसी भी कार्य को करने से पहले उसके प्रति व्यक्ति के मन का कर्तव्य या अकर्तव्य के रूप में चिन्तन करना कि इसे किया जाये या नहीं, यही चिन्त्य है।

2 विचार्य

किसी भी कार्य को करने से पहले उसके परिणाम को सोचना अर्थात् उसे करने से क्या लाभ और क्या हानि होगी, यही विषय विचार्य कहलाता है।

3 उद्दय

किसी भी विषय के संबन्ध में जो संभावना व्यक्त की जाये वह 'उद्दय' कहलाता है - जैसे इस प्रकार से होगा, यह ऐसा नहीं होगा - इस प्रकार की उहापोहात्मक स्थिति को 'उद्दय' कहते हैं।

4 ध्येय

जिसका ध्यान करके परिकल्पित कल्पित रूप में जाना जाये जिसमें भावनात्मक ज्ञान निहित हो वह विषय ध्येय कहलाता है।

5 संकल्प

यह गुणवान और यह दोषवान है इस प्रकार का निश्चय जहाँ किया जाये वह 'संकल्प' है।

6 अन्य विषय

इसके अतिरिक्त अन्य जो भी विषय मन के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं वे सभी मन के विषय (अर्थ) कहलाते हैं। यह ऐसी व्यापक परिकल्पना है कि सम्पूर्ण व्यापारों का इसमें समावेश सम्भव है।

मन के इन विषयों में भी 'चिन्त्य' और 'संकल्प' मुख्य हैं, जिनका अन्यत्र भी उल्लेख: मिलता है। 'मनसस्तु चिन्त्यमर्थः (च.सू. 8/16)

'कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवाष्' (च.शा. 1/22)

मन के कर्म



चरक संहिता में मन के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख मिलता है -

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।

ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते॥ (च.शा. 1/20)

1 इन्द्रियाभिनिग्रह

इन्द्रियों को अपने वश में रखना अर्थात् किसी भी विषय को मन में अधिष्ठित कर ही उनके विषयों को ग्रहण करती है। एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय में तत्सम्बन्धी इन्द्रिय को प्रवृत्त करना यह भी मन का ही कार्य है। किसी ग्राह्य इन्द्रियार्थ को उस इन्द्रिय विशेष से ग्रहण कराकर मन उस इन्द्रिय पर अभिग्रह करता है।

‘मनःपुरःसराणिइन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। (च.सू. 8ध/7द)

2 स्वयं का निग्रह

मन अपने आप पर भी नियन्त्रण करता है। किसी भी अनिष्ट विषय में मन प्रवृत्त हो रहा है तो उसे स्वयं मन ही रोकता है। अथवा एक विषय या गुण में लगे हुये मन को रोककर दूसरे विषय या गुण में लगाना . मन का कार्य है। मन पर स्वयं ही नियन्त्रण करने वाला भाग ‘धृति’ कहलाता है, क्योंकि चरक संहिता में कहा गया है -

विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।

नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका॥ (च.शा. 1/100)

3 उह्य

उह्य सम्भावना है। यह सम्भावना बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान पर आधारित मन पूर्व स्मृतियों के साथ करता है। प्राप्त ज्ञान का मन तर्क-वितर्क के माध्यम से विश्लेषण कर सम्भावित परिणाम को ज्ञात करता है। अतः उह्य को भी

आयुर्वेदाचार्यों ने मन के कार्यों में समाहित कर लिया है।

4 विचार

हेय और उपादेय की दृष्टि से कहीं विकल्पन किया जाये अर्थात् यह अनुपयोगी है यह उपयोगी है, ऐसा विचार करना, विचार कहलाता है। द्विविधा पूर्ण विचार आदि मन का कार्य है। इससे परे बुद्धि की प्रवृत्ति होती है।

मन प्राप्त ज्ञान के विषय में यह मेरे लिये उचित होगा, हानिकारक होगा आदि उहापोह करता जरूर है परन्तु उस पर निर्णय लेने का कार्य बुद्धि करती है। मन यदि प्राकृत कार्य कर रहा है तो वह उन विकल्पों को बुद्धि की ओर प्रेषित कर देता है और उन पर बुद्धि जो निर्णय देती है तदनुरूप कार्य करता है।

मनस् के तीन भाग

चरक ने चरक संहिता में मन (सत्त्व) तीन प्रकार के बताए हैं - शुद्धम, राजस, तामस - ये त्रिगुणों से पृथक त्रिसत्त्व (मन) है जिनमें कल्याणभाग, रोषभाग व मोहभाग की प्रधानता होने से तीन प्रकार के मन आयुर्वेद शास्त्र में विवेचित हैं। मनस के घटक त्रिगुण हैं। यद्यपि मन की उत्पत्ति में सत्त्व व रजस् का ही अधिक योगदान है। इसलिए चरक तीन प्रकार के मनस शुद्धम, राजस् तथा तामस् का उल्लेख करते हैं। इनमें शुद्ध (सात्विक) कल्याण अंश के अधिक होने से दोषरहित रहता है। राजस् मन में क्रोध (रोष) की प्रधानता होने से दोषयुक्त कहा जाता है और तामस् मन मोह अंश की प्रधानता से दोषयुक्त होता है।¹⁶

अतः मन अनेक प्रकार का होते हैं तथा सभी प्रकार के मन पुरुष में होते हैं, किन्तु अनेक प्रकार का मन पुरुष में एक ही समय में नहीं



होता अपितु भिन्न-भिन्न काल में होता है।¹⁷ अतः एक पुरुष विशेष भी अपने जीवन काल में कई प्रकार के मनो का अधिष्ठाता होता है किन्तु एक ही समय में नहीं। इस प्रकार तीन प्रकार के मन में एक-एक मन के भेद तर-तम के योग से मन अपरिसंख्येय होते हैं।

त्रिगुणों में जिस गुण की अधिकता के साथ प्राणी का मन सम्बन्धित होता है उसी अधिक गुण के साथ मन दूसरे जन्म में भी सम्बन्धित रहता है अर्थात् पूर्वजन्म के अनुसार ही यह मन सात्विक ए राजस, तामस होता है। जब शुद्ध सत्त्व गुण से मन अधिक सम्बन्धित होता है तब मन को पूर्वजन्म की घटनाओं का स्मरण रहता है परन्तु मन जब राजस् व तामस् की अधिकता से युक्त होता है तब गतजन्म की घटनाओं का स्मरण नहीं रहता है।¹⁸

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आयुर्वेदाचार्यों ने मनस् के साथ त्रिगुणों का संबंध स्वीकार किया है। यह संबंध न केवल वर्तमान जीवन तक सीमित है, अपितु मन के साथ त्रिगुणों के एक जन्म से दूसरे जन्म में भी स्थानान्तरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है।

आयुर्वेद और योग न केवल दार्शनिक शास्त्र है अपितु मनोविज्ञानिक शास्त्र भी है। अतः योग को आयुर्वेद से पृथक स्वीकार न करके आयुर्वेद का ही अभिन्न अंग माना गया है। आयुर्वेद एक व्यावहारिक दर्शन पर आधारित देह-अध्यात्म शास्त्र है, किन्तु प्रधानतः देह (शरीर) प्रधान है। यह मात्र शारीरिक चिकित्सा विज्ञान ही नहीं है अपितु इसमें चिकित्सा से परे उपधारहित नैष्ठिकीचिकित्सा अर्थात् मोक्षदायिनी विद्या का भी उल्लेख है। आयुर्वेद का दार्शनिक पक्ष सांख्य-योग व न्याय-वैशेषिक पर आधारित प्रतीत होता

है, किन्तु आयुर्वेद के दार्शनिक सिद्धांतों के गंभीरता से समालोचनात्मक अध्ययन से यह तथ्य समुपस्थित होता है कि आयुर्वेद शास्त्र स्वयं एक दर्शन है जिसने दार्शनिक तंत्र न्याय-वैशेषिकयुग्म को बीज रूप में समाहित कर रखा है। वही बीज रूप विकसित होकर दो पृथक-पृथक स्वतंत्र दर्शन के रूप में भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा के अभिन्न अंग हैं। डा.एस.एन. दासगुप्त के शब्दों में :

डॉ.राधाकृष्णन व एस.एन.दास गुप्त आदि आधुनिक भारतीय विद्वानों के अनुसार किसी भी दर्शन की अपनी तीन मूलभूत मीमांसाएँ होना आवश्यक है जो दार्शनिक क्षेत्र में उसका दर्शन होना सिद्ध करती है। 1 तत्त्व मीमांसा (Ontology or metaphysics), 2 प्रमाण-मीमांसा या ज्ञान-मीमांसा (Epistemology) 3 नीतिशास्त्र (Ethics) आयुर्वेद इन तीन मीमांसाओं को समाहित करता हुआ उनका व्यावहारिक व प्रयोगात्मक पक्ष भी प्रबलता के साथ प्रस्तुत करता है। अतः आयुर्वेद के सिद्धांत दार्शनिक तन्त्रों के सिद्धान्तों से कतिपय पृथक अर्थों को भी समाहित किये हुए हैं, जिनका संबंध दार्शनिक जगत् की कोरी कल्पना की उड़ानों के बजाय व्यावहारिकता व प्रयोगात्मकता की कसौटी पर अपने को सिद्ध करते हैं।

आयुर्वेद का कर्मपुरुष चतुर्विंशति तत्त्वात्मक सृष्टि है और 'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग' जीव ही आयुर्वेद का कार्यक्षेत्र है। जीवन की इस मौलिक आयुर्वेदीय अवधारणा में कर्ता (पुरुष) के भोगायतन रूप शरीर को छोड़कर शेष तीन चौथाई तत्त्व 'इन्द्रियसत्त्वात्म' तीनों मानसविज्ञान के विषय है। शरीर स्वयं इन तीनों से प्रभावित होता रहता है और वह इन मानसभावों का भोगायतन मात्र है। इन्द्रिय सत्त्व



(मन) व आत्मा तीनों में सबसे प्रधान मन है, क्योंकि यह तीव्र गतिशील होने के कारण शरीर को प्रभावित करने के अतिरिक्त इन्द्रिय व्यापार के लिए भी स्वयं ही उत्तरदायी है तथा चेतन किन्तु निष्क्रिय आत्मा भी मन के प्रभाव से ही क्रियाशील होता है। अतः इन्द्रिय मन तथा तत्सम्बन्धित सम्पूर्ण देहेतर क्रिया-कलाप स्थूलरूपेण मन का ही व्यापार है। आयुर्वेद प्रधानतः शरीर प्रधान शास्त्र होने से मन विषयक ज्ञान सम्पूर्ण शास्त्र में अनुप्राणित है, क्योंकि शरीर की स्वस्थ स्थिति बिना मन आत्मा के अपूर्ण है। अतः आयुर्वेद के आठ विभागों में मानस सम्बन्धित भाग का उल्लेख नहीं किया गया है। केवल भूतविद्या सम्बन्धित भाग में ही थोड़ा विकृतिपरक अंश को विवेचित किया गया है।

आयुर्वेद जीवन विज्ञान होने के साथ-साथ चिकित्सा विज्ञान भी है, जिसका लक्ष्य स्वास्थ्य रक्षा व रोग निवृत्ति है। योग और आयुर्वेद दोनों भारतीय दार्शनिक परम्पराएं होने के साथ-साथ वैज्ञानिक व आध्यात्मिक परम्पराएं भी हैं, जिनका दार्शनिक आधार सांख्य दर्शन है अर्थात् योग व आयुर्वेद दोनों की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि प्राचीनतम दर्शन सांख्य के पञ्चविंशति तत्त्वों पर ही निर्भर है। अतः सांख्यदर्शन का न केवल भारतीय दार्शनिक परम्परा में अपितु आयुर्विज्ञान में भी अद्वितीय योगदान है।

मनस् के रहस्य को समझने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान व मानसरोगविज्ञान के विद्वान उसके कार्यों, स्वभाव तथा स्वरूप को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं। पश्चिम में मन व शरीर में किसी एक की सर्वोच्चता को लेकर बहुत विवाद रहा है भौतिकवादी विद्वान जैसे. हॉब्स, मार्क्स, लामिरे, टॉलेण्ड आदि ने कभी भी मन व आत्मा की

सत्ता द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है, जबकि अध्यात्मवाद के समर्थक विद्वान स्पिनोजा, हेगल, बर्कले, लाइब्निज़ आदि ने भौतिकवादी विश्व की सत्ता मन (आत्मा) के बिना स्वीकार नहीं करते हैं।

अतः पाश्चात्य परंपरा अभी तक मन और आत्मा की पृथक सत्ता को स्वीकार करने की स्थिति में पहुँचने में असफल रही है। यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य की पाश्चात्य परंपरा में मनस् में ही आत्मा को स्वीकार किया गया है अर्थात् मनस् और आत्मा एक दूसरे के पर्याय है। अतः स्पष्ट है कि मनोविज्ञान (Psychology) व मानसरोगविज्ञान (psychiatry) दोनों मनसपरक शाखाएं पाश्चात्य चिंतन की उपज हैं। इनमें भी आत्मतत्त्व को स्वीकार न करके मन को ही सम्पूर्ण प्रक्रिया का केन्द्र बिंदु माना गया है। आधुनिक विज्ञान में मन-सम्बन्धी जानकारी देने वाला शास्त्र 'मनोविज्ञान' है अर्थात् बाह्य परिस्थितियों में मन के व्यवहार का अध्ययन मनोविज्ञान कहलाता है। इसमें मुख्यतः सामान्य मानसिक क्रियाओं व व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। (The study of the behaviour of an organism in its environment. Medically the study of human behaviour.)¹⁹

मानस रोगों का विवेचन करने वाला शास्त्र मानस रोग विज्ञान है अर्थात् चिकित्साशास्त्र कि वह शाखा जो 'असामान्य मनोविज्ञान' से सम्बंध है, जिसमें असामान्य मन या मानसिक रोगों के निदान और चिकित्सा बतायी जाती है, उसे मानस रोग विज्ञान कहते हैं। (The branch of medical study devoted to the diagnosis and treatment of mental illness.)²⁰



वस्तुतः प्रथम विज्ञान 'प्रकृतिपरक' है तथा
द्वितीय विज्ञान विकृति परक है।

सन्दर्भ

- 1 खादिन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ चरक
संहिता 1.1.48
- 2 च. सू. 8/7
- 3 सत्त्वं प्रकाशकं विद्धि रजश्चापि प्रवर्तकम् ।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योन्यमिथुनप्रियम् ॥ काश्यप सं
सू. 28
- 4 त्रिविधं खलु सत्त्वं . शुद्धं, राजसं, तामसमिति। तत्र
शुद्धमदोषाख्यातं कल्याणांशत्वात् राजसं सदोषमाख्यातं
रोषांत्वात्, तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात् ॥
च.सं. 4.4.36
- 5 तत्र त्रयः शरीरदोषा वातपित्तश्लेष्माणः, ते शरीर
दूषयन्ति द्वौ पुनः सत्त्वदोषौ रजस्तमश्च, तौ सत्त्वं
दूषयतः। ताभ्यां च सत्त्वशरीरभ्यां दुष्टाभ्यां
विकृतिरुपजायते, नोपजायते चाप्रदुष्टाभ्याम् । च शा.
4/34
- 6 च. वि. 8/119
- 7 च. सू. 8/4
- 8 च.शा. 3/13
- 9 मनोजवौ दैहमुपैति देहात् । च शा. 2/31
- 10 तत्र पूर्व चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय
प्रवर्तते।
स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्या गुणेभ्य
उपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून्
वाय्वादिकांश्चतुरः। सर्वमपि तु
खल्वेतद्गुणोपादानमणुना कालेन भवति। चशा. 4/8
- 11 यथा ज्ञाननस्य भावश्च मनोगमको भवति
तदाहसतीत्यादि। वैवृत्यान्मनस इति इन्द्रियेणासंयोगात्,
सान्निध्यादिति इन्द्रियेण मनसः सम्बन्धात् । एवं
मन्यते . यदा युगपदिन्द्रियार्था इन्द्रियैः संयुज्यन्ते तदा
क्वचिदिन्द्रियार्थं ज्ञानं भवति क्वचिन्न भवतीति दृष्टं,
ज्ञानभावाभावौ ज्ञानकारणान्तरं दर्शयतः यच्च तत्
कारणान्तरं तन्मनः। च. शा. 1/181 पर चक्रपाणिटीका
12 च. सू. 1.48

13 च. शा. 1.9

14 स्वार्थेन्द्रियार्थसंकल्पव्यभिचरणाच्चाचानेकमेकस्मिन्
पुरुषे सत्त्वं, रजस्तमःसत्त्वगुणयोगाच्च, च चानेकत्वं न
ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते तस्मान्नैककाला
सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः। च.सू. 8/5

15 मनसो ज्ञेयमिति इन्द्रियनिरपेक्षमनोग्राहयम् । चशा.
1/20 पर चक्रपाणि

16 त्रिविधं खलु सत्त्वं . शुद्धं, राजसं, तामसमिति।
तत्र शुद्धमदोषाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं
सदोषमाख्यातं रोषांत्वात्, तामसमपि सदोषमाख्यातं
मोहांशत्वात् ॥ चसं. 4.4.36

17 नानाविधानि खलु सत्त्वानि, तानि सर्वाणि एकपुरुषे
भवन्ति, न च भवन्त्येक कालम् ॥ चसं. 4.3.13

18 येनास्य खलु मनोभूयिष्ठं तेन द्वितीयायामाजातौ
संप्रयोगो भवति, यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते तदा
जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति ॥ च. सं. 4.3.13

19 डॉ. राजेन्द्र प्रकाश भट्टनागर, अभिनव मानस -
रोग विज्ञान, पृ. 177

20 डॉ. राजेन्द्र प्रकाश भट्टनागर, अभिनव मानस -
रोग विज्ञान, पृ. 178

सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1 श्रीमद्भगवद्गीता, शांकरभाष्य सहितं, श्री हरिकृष्णदास
गोयन्दका, गीताप्रेसएगोरखपुर 2061
- 2 धम्मपद (मूल पाली, संस्कृत छाया और हिन्दी
अनुवाद) डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित
- 3 आचार्य पंडित श्रीराम शर्मा, चेतन-अचेतन एवं
सुपरचेतन मन (वाग्दमय खण्ड) अखण्ड ज्योति
संस्थान, मथुरा 1998
- 4 डॉ. लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, योगासन एवं स्वास्थ्य,
शिक्षा भारती प्रेस, सदरा दिल्ली
- 5 डॉ. राजकुमार ओझा व हरि प्रसाद भार्गव,
असामान्य मनोविज्ञान, कचहरी घाट, आगरा 1991
- 6 डॉ.सीताराम जयसवाल, मनोविज्ञान की रूपरेखा,
हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ
- 7 डॉ. बालकृष्ण पाठक मनोरोग विज्ञान, श्रीधनाथ
आयुर्वेद भवन लिमिटेड, कलकता 1983